International Journal of Advanced Research and Development
ISSN: 2455-4030
Impact Factor: RJIF 5.24
www.advancedjournal.com
Volume 3; Issue 2; March 2018; Page No. 704-706

'हंस' के आईनें में साम्प्रदायिकता

शैलेन्द्र प्रताप
शोधार्थी, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत।

प्रस्तावना

किसी भी समाज को समझने के लिए वहां रहने वाले विभिन्न समुदायों के बीच का रिश्ता एक महत्वपूर्ण कुंजी है। लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में यह रिश्ता स्वस्थ और बराबरी का होता है। एकाधिकारी और फासीवादी समाजों में यह रिश्ता घृणा तथा हिंसा से भरा होता है। कोई भी समाज तभी प्रगति कर सकता है जब वहाँ रहने वाले बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक समुदायों में परस्पर बराबरी और सौहार्द का रिश्ता हो। निश्चित रूप से मित्रता, बराबरी और सहयोग का रिश्ता तभी कायम होगा जब देश में लोकतांत्रिक शक्तियाँ मजबूत होंगी तथा धर्म और जाति की राजनीति का अंत होगा।

दक्षिण एशिया में जिसे हम साम्प्रदायिकता कहते हैं वह मूलतः धर्मो के बीच विवादों की राजनीतिक संस्कृति है।[1] आज दुनिया के पैमाने पर यही राजनीतिक संस्कृति जातीय हिंसा के विभिन्न रूपों को गढ़ती रहती है, जिसका एक रूप साम्प्रदायिकता है। धर्म जब अंध भाव से कट्टरता धारण कर दूसरे धर्म के प्रति हिंसा भाव अपना ले तो यह साम्प्रदायिकता की स्थिति कही जा सकती है। यह एक ओर विधर्मियों को निराशा बनाती है तो दूसरी ओर वर्णवाद को मजबूत करती है। प्रेमचंद ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा था ''साम्प्रदायिकता सदैव संस्कृति की दुहाई दिया करती है, उसे अपने असली रूप में निकलते शायद लज्जा आती है– वास्तव में संस्कृति की पुकार केवल ढोंग है, निरा पाखण्ड और इसके जन्मदाता भी वही लोग हैं जिनको अपने ऊपर कोई भरासा नहीं– उनके पास कोई सामाजिक या राजनीतिक कार्यक्रम नहीं है, जिसे राष्ट्र के सामने रख सकें।''[2]

साम्प्रदायिकता कोई एकाएक पैदा होने वाली चीज नहीं है। यह एक प्रक्रिया है जो कुछ संगठनों या समूहों के द्वारा लगातार चलाई जाती है, जिसका परिणाम साम्प्रदायिक हिंसा के रूप में दिखाई देता है। ''इसके फैलाव का एक क्रमबद्ध सिलसिला होता है जिसके तीन चरण होते हैं– पहला, यह सोच कि एकही धर्म के मानने वालों के सभी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हित समान होते हैं। दूसरे चरण में यह बात फैलाई जाती है कि एक धर्म के अनुयायियों के सारे हित किसी अन्य धर्म के अनुयायियों से भिन्न होते हैं। साम्प्रदायिकता के विकास के तीसरे चरण में यह मान लिया जाता है कि विभिन्न धर्मों के अनुयायियों के हित परस्पर विरोधी होते हैं। साम्प्रदायिकता का तीसरा चरण उसे उग्रवाद या फासीवाद की ओर ले जाता है।''[3] उग्रवादी साम्प्रदायिकता के हमले के शिकार गैर–धार्मिक लोग ही नहीं कलाकार बुद्धिजीवी समेत वे लोग भी होते हैं जो इस उन्माद पर आधारित विचार को समर्थन नहीं देते या उसका विरोध करते हैं। पिछले कुछ वर्षों में भारतीय समाज और राजनीति में इसका प्रकोप बढ़ा है। साम्प्रदायिक राजनीति का भारतीय समाज में बढ़ता आधार चिंता का विषय है।

'हंस' (1986–2018) हिन्दी समाज में होने वाले वैचारिक परिवर्तन का न सिर्फ साक्षी रहा है बल्कि इन परिवर्तनों को सम्भव बनाने में अपनी ठोस भूमिका निभाई है। यह तय कर पाना मुश्किल है कि 'हंस' के लोकप्रियता का आधार उसकी कहानियां हैं या वैचारिक मुद्दों पर उसका लेखन। 'हंस' के प्रकाशन के बाद से अब तक का दौर इतिहास में सबसे तेज बदलाव का दौर रहा है। भारतीय संदर्भ में बात करें तो साम्प्रदायिकता का राजनीतिक उभार, मंडल कमीशन की सिफारिशों के बाद शुरू हुआ सामाजिक–राजनीतिक आंदोलन, हाशिये पर धकेले गये समुदायों के अस्मिता विमर्श से नई सामाजिक चेतना का आगाज, संचार और सूचना के माध्यमों की तकनीकी क्रांति से नए मीडिया आक्रांत युग का आरम्भ, निजीकरण और वैश्वीकरण के रूप में भारतीय पूंजीवाद का नए युग में प्रवेश, नई वैचारिक कोटियों प्रणालियों का आगमन, अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भ में सोवियत संघ के ध्वस्त हो जाने के साथ गुट निरपेक्ष आंदोलन का अंत।..... इतने ज्यादा परिवर्तनों का साक्षी रहने का अवसर 'हंस' को मिला, बल्कि यह कहना ठीक होगा कि 'हंस' ने इन परिवर्तनों में सक्रिय हस्तक्षेपकारी भूमिका निभाई।''[4]

'हंस' ने आरम्भ से ही अपने समसामयिक मुद्दों को बहस का केन्द्र बनाया और बड़े ही बेबाक ढंग से उन मुद्दों पर अपनी दो टूक राय रखी। ''पहले ही अंक में गौतम नवलखा देश में बढ़ती साम्प्रदायिकता पर चिन्ता जाहिर करते हैं और यह 'हंस' का एक प्रकार से स्थाई सरोकार बन जाता है। 'हंस' के लेखों में साम्प्रदायिकता से सम्बन्धित लेख सबसे ज्यादा छपे हैं, दलित और स्त्री सवालों से भी ज्यादा।''[5]

आज हमारे देश और समाज के लिए साम्प्रदायिकता एक बड़ी चुनौती है लेकिन इसके विषय में सरकार का रूख बड़ा ही उदासीन है। पहले साम्प्रदायिक हिंसा की हर घटना की खबर दी जाती थी। उसकी छानबीन की जाती थी, जांच आयोग का गठन कर अपराधियों का पता लगाया जाता था। ''आज साम्प्रदायिक भावनाओं को भड़काने, उभाड़ने पर कहीं कोई रोक–टोक नहीं है। आज उन साम्प्रदायिक शक्तियों का आदर किया जाता है जो महात्मा गांधी की हत्या की जिम्मेदार थीं।..... कभी धर्मनिरपेक्षता का यह अर्थ था कि शासन किसी एक धर्म के साथ न जुड़े, संघ के रूप में धार्मिक संस्थानों की मध्यस्थता, संचालन और नियंत्रण करे। अब स्थिति यह है कि सरकार जुझारू हिन्दू दृष्टिकोण के दबाव में या स्वेच्छा से हिन्दू पुनर्जागरण को समर्थन देने में लगी है?''[6]

साम्प्रदायिकता की बढ़ती समस्या के कारणों पर गहराई से छानबीन करने पर हम पाते हैं कि इसकी जड़ें पूंजीवादी साम्राज्यवाद से जुड़ी हुई हैं। देश में आर्थिक उदारीकरण (1990) के बाद साम्प्रदायिकता की प्रवृत्ति में तेजी से ईजाफा हुआ, साथ ही बदलती राजनीतिक परिस्थितियों में कुछ राजनैतिक दलों ने इसे सत्ता की सीढ़ी के रूप में प्रयोग किया। 'हंस' के अपने एक लेख में गौतम

नवलखा ने साम्प्रदायिकता के सम्बन्ध में बड़ा ही जायज सवाल उठाया है– ''धर्म के प्रति बढ़ते इस आग्रह के मूल में सरकारी नीतियों की असफलता और राजनैतिक स्तर पर व्याप्त वैचारिक शून्यता ही तो नहीं? या शासक वर्ग की राजनीति को एक नई मान्यता देने की कोशिश तो नहीं? ताकि देश को साम्राज्यवादियों के सामने परोशने की नीति को सही ठहराया जा सके? जो शासक वर्ग साम्राज्यवाद के साथ व्यवसायिक संबंध बना रहा है वही धर्मोन्माद को भी समर्थन क्यों दे रहा है? कहीं यह इस बात पर पर्दा डालने की कोशिश तो नहीं है कि वह पूरी तरह साम्राज्यवाद पर निर्भर है और इसलिए उसे भारतीयता का ढोल और जोर–जोर से पीटना पड़ रहा है?''[7]

'हंस' सिर्फ परम्परागत अर्थों में साहित्य की ही पत्रिका नहीं रही, वह समय और समाज के बौद्धिक सवालों की बाहरी–भीतरी यात्रा भी रही। कोई भी साहित्य एक विशेष समाज में रचा और सराहा जाता है तथा उस समाज के प्रश्नों से दो चार होना ही साहित्य का दर्शन भी है। 'हंस' ने अपने समय के ज्वलंत मुद्दों पर खूब बहसें चलाई। बाबरी विध्वंस के समय जब रामराज्य के नाम पर देश में साम्प्रदायिकता की आग को हवा दिया जा रहा था, 'हंस' ने भगवान सिंह के उपन्यास 'अपने अपने राम' को केन्द्र में रखकर मिथकों पर बहस चलाई। इस बहस के केन्द्र में रामकथा थी। मिथक की पुनर्व्याख्या या दूसरा पाठ स्थापित मिथक का भंजन करता है या किन्हीं मायनों में उसे दृढ़ ही करता है, सिर्फ पाठ की व्याख्याओं के जरिए मिथक का 'वास्तविक' या इतिहास आख्यान, पुनः सृजन की क्या समस्याएं हैं, इस बहस का केन्द्रीय विषय रहा। साम्प्रदायिक राजनीति जिस समय धनुर्धारी राम को केन्द्र में रखकर हिन्दू धर्म को पुनः परिभाषित या पुनर्गठित करने में अत्यन्त सक्रिय थी, उस समय यह बहस चलाना एक जोखिम भरा लेकिन अनिवार्य कार्य था।

बाबरी विध्वंस के समय साम्प्रदायिकता को हवा देने में किन ताकतों का हाथ था? इसके पीछे उसकी मनसा क्या थी? जब इन सवालों पर हम गहराई से विचार करते हैं तो पाते हैं कि यह प्रभुत्ववादी शक्तियों द्वारा रचा गया एक षड्यंत्र था। आजादी के लगभग चालीस–पैतालीस वर्ष बाद भी देश का बहुसंख्यक समाज–जिसे आजादी से बड़ी अपेक्षाएं थीं– मुख्यधारा से दूर हाशिए पर पड़ा था, वह इतने वर्षों बाद भी अपनी स्थिति में किसी प्रकार का बदलाव महसूस नहीं कर रहा था। आजादी, समानता, न्याय जैसे शब्दों का उसके लिए कोई अर्थ नहीं था। जब वह अपने अधिकारों के प्रति सचेत होने लगा तथा सत्ता में बैठे वर्चस्ववादी लोगों से अपने अधिकारों की मांग करने लगा तब इस ओर से जनता का ध्यान हटाने के लिए बाबरी विध्वंस के बहाने देश को साम्प्रदायिकता की आग में झोंक दिया गया। यह बताने का प्रयास किया गया कि तुम्हारे संकटों और दुःखों का कारण मुसलमान हैं। इस तरह जनता की मूल समस्याओं को पार्श्व में ढकेल कर धर्म के नाम पर एक दूसरे के प्रति नफरत की भावना को भड़काया गया।

'हंस' ने अपनी संपादकीय और लेखों के माध्यम से धर्म की आड़ हो रहे इस षड्यंत्र को लगातार बेनकाब किया तथा जनता को हकीकत से अवगत कराने का प्रयास किया। बाबारी विध्वंस के बाद 'हंस' की सम्पादकीय में राजेन्द्र यादव ने लिखा– ''घृणा हिंसा और झूठ के त्रिशूलधारियों को दिल्ली अब बहुत पास दिखाई दे रही है। लगता है देश के भाग्य में उस फासिस्ट शासन को भोगना लिखा ही है जिसकी एक झांकी पिछले दिनों अयोध्या में दिखाई गयी। यह सही है कि भीड़ का यह सन्निपात बहुत जल्दी ही अपने अन्तर्विरोधों में विखरेगा.... सबसे पहले आवाज उठायेंगे वे जो अपने ही धर्म में अत्याचार के शिकार हैं और सामाजिक बराबरी की मांग करते रहे हैं। यह वास्तविकता भी बहुत देर तक छिपायी नहीं जा सकती कि रामराज्य सवर्णों के सामंती वर्चस्व का ही दूसरा नाम है। जिनके दिमागों में यह गुरू मंत्र भरा गया है कि इतिहास की गलतियां सुधारेंगे और अतीत का बदला वर्तमान से लेंगे, वही पलटकर पूछेंगे कि अभी तक सामाजिक समानता और न्याय की मांगों के जवाब में आप क्यों आंकड़े और प्रतिशत उगल रहे थे.... यानी इतिहास का बदला सिर्फ मुसलमानों से लिया जायेगा, आपसे नहीं?''[8]

'हंस' मुख्यतः कहानी की पत्रिका रही है। हिन्दी क्षेत्र की वैचारिकता में एक स्पष्ट और निश्चित स्टैण्ड के साथ हस्तक्षेप करते हुए भी उसकी कहानियों में पर्याप्त विविधता बनी रही। आजादी के साथ जिस साम्प्रदायिकता ने देश को दो फाड़ किया वह उसी के साथ समाप्त नहीं हुई। वह एक संकट के रूप में हमेशा मोजूद रही और समय–समय पर अपना विकृत रूप दिखाती रही। अपने ही देश में दो समुदायों के बीच नफरत बढ़ाकर पार्टीशन की प्रवृत्ति को बढ़ाती रही। स्वयं प्रकाश की कहानी 'पार्टीशन' इसी दर्द को बयां करती है। यह कुर्बान भाई की कहानी है। जो बंटवारे के दंगों में सबकुछ खो देने के बाद भी पाकिस्तान नहीं गये। इधर–उधर भटकने के बाद एक कस्बे में ''थोड़ा सा अपनापन, थोड़ी सी सामाजिक सुरक्षा, थोड़ा सा आत्मविश्वास और थोड़ी सी सहजता उन्होंने अर्जित की। कुछ पढ़े लिखे रोशन खयाल युवकों के सम्पर्क में आकर पुराने मजहबी दायरे से निकले ही थे कि हिन्दू समाज ने उन्हें उनकी औकात समझा दी और वे फिर उसी मजहबी दायरे में वापस जाने के लिए मजबूर हो गये। लतीफ भाई उनकी मदद के लिए आ पहुँचे और देखा गया कि टोपी पहन कर दोनों मस्जिद की तरफ चल दिए। इसके पहले कुर्बान भाई किसी से कह रहे थे– 'आप क्या खाक हिस्ट्री पढ़ाते हैं? कह रहे हैं पार्टीशन हुआ था। हुआ था नहीं हो रहा है, जारी है।''[9]

खौफ ओर आतंक की स्थिति में मनुष्य की मनुष्यता किस कदर खत्म हो जाती है और व्यक्ति अपना विवेक खो देता है, यही कुछ कहती है कहानी 'खौफ'।[10] ट्रेन में सफर कर रहा युवक दूसरे युवक को ट्रेन से यह सोचक फेंक देता है कि वह विधर्मी है। गिरता हुआ युवक जब अल्लाह को याद करता है तो यह सोच कर दुःखी हो जाता है कि अपने ही धर्म के एक व्यक्ति की हत्या उसने बिना सोचे समझे कर दी।

साम्प्रदायिक दंगों में सबसे अधिक शिकार होता है समाज का कमजोर तबका उसमें भी खासकर महिलाएं। सहनशीलता का दावा करने वाले धर्म के तथा कथित ठेकेदारों के कुकृत्यों को उजार करती है पंकज विण्ट की कहानी 'क्या कहना है जटायु?'[11] दंगे के माहौल में हिन्दू कट्टरवादियों की अमानवीयता और नृशंसता, औरतों के साथ घृणित व्यवहार को उजागर करती यह कहानी ढेर सारे पारम्परिक मिथकों को तोड़ती है।

'हंस' की कहानियों में भारतीय समाज में जड़े जमा रहे हिन्दू कट्टरवाद को केन्द्र में रखते हुए उसके प्रति नकार और प्रतिकार का भाव व्यक्त किया गया है। इसके फैलाव में कट्टरवादी राजनीतिक संगठनों को जिम्मेदार माना गया है साथ ही अशिक्षा, बेरोजगारी, सामाजिक संकीर्णता जैसे तत्वों को भी कारक के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

साम्प्रदायिकता से जूझने का तरीका यही हो सकता है कि अशिक्षा, बेरोजगारी, सामाजिक संकीर्णताओं को दूर किया जाय साथ ही बहुसंख्यक हिन्दू रूढ़िवादिता का प्रतिरोध किया जाय ताकि अल्पसंख्यकों में प्रगतिशील तबकों को भी साहस और गुंजाइश मिले ओर वे अपने समुदाय के पुराणपन्थी, दकियानूसी, नेतृत्व को खुद चुनौती देकर प्रगति के रास्ते खोल सकें।

संदर्भ

1. अभय कुमार दुबे : राष्ट्रवाद का अयोध्या काण्ड, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 11
2. हंस (अप्रैल 1989), पृ. 16
3. विपिन चंद्र : भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1995, पृ. 319–20
4. राजेन्द्र यादव व विभास वर्मा (संपा.) : हंस के विमर्श, 2012, भाग एक, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 7
5. वही, पृ. 8
6. वही, पृ. 14
7. वही, पृ. 17
8. हंस, राजेन्द्र यादव (संपा.) : संपादकीय, जनवरी 1993
9. हंस के विमर्श, भाग एक, पृ. 24
10. गुलजार : 'खौफ' हंस (दिसम्बर 1994), पृ. 24
11. पंकज विष्ट : क्या कहना है जटायु?, हंस (अप्रैल 1993), पृ. 57